अनुभव 9

गाँव, सरकारी स्कूल और चकमक क्लब

सुनील बागवान*

यह अनुभव बच्चों के मन में शिक्षा के प्रति अरुचि एवं अनिच्छा पैदा करने वाली स्कूली शिक्षा के बरक्स सीखने के उस अनौपचारिक अनुभव को रखता है, जो सहजता और आनंद से युक्त है। साथ ही यह बताता है कि स्नेहिल वातावरण मिलने पर कैसे सीखने के प्रति ललक विकसित होती है। यह बच्चों के लिए पुस्तकालय की ज़रूरत को रेखांकित करता है और पाठ्यपुस्तकों से इतर साहित्य पढ़ना विषयगत समझ को कैसे बेहतर बनाता है, इसकी भी एक मिसाल प्रस्तुत करता है यह अनुभव...

मेरे घर वाले मुझे और मेरे बड़े भाई को पढ़ाना चाहते थे। स्कूल न जाने पर मेरी अक्सर पिटाई होती रहती थी। बस्ता लेकर घर से निकलना, किसी दोस्त के साथ खेत पर चले जाना या फिर कहीं खेलते रहना और स्कूल की छुट्टी के समय वापस घर लौट आना, लगभग हम चार-पाँच दोस्तों की आदत बन गई थी। माता-पिता काम पर चले जाते थे। जब घर वालों को यह बात मालूम पड़ी तो मेरी जमकर पिटाई हुई। घर वाले अगले दिन कान पकड़कर स्कूल लेकर आए। घर और स्कूल में सख्ती कुछ ज़्यादा ही बढ़ गई।

समय किसी तरह बीतता गया। मैं पाँचवीं पास हो गया। मगर स्कूल कोई अच्छी लगने वाली चीज़ तो थी नहीं। पाँचवीं की परीक्षा के बाद गर्मी की छुट्टी चल रही थी। हम आठ-दस दोस्त एक कमरे में कठपुतली का खेल खेल रहे थे। अखबारी कागज के नकली रुपये थे और अखबारी कागज के ही टिकट।

अखबारी कागज, लकड़ी और पुराने कपड़ों से बनी थी कठपुतली। यह कठपुतली हमने एक दोस्त के यहाँ टीवी में देखकर बनाना सीखा था। इसी दौरान 21-22 वर्ष के चार-पाँच लड़के आए। हमसे मुस्कुराते हुए पूछा, "क्या कर रहे हो?, तुम्हारी कठपुतली तो बहुत सुंदर है", वगैरह-वगैरह। अंत में पूछा, "हमें किराए पर एक बड़ा कमरा चाहिए यह मकान किसका है? क्या वे हमें यह मकान किराए पर देंगे? बात आगे बढ़ी। हमने उन्हें मकान मालिक

---

* पत्रिका *शिक्षा विमर्श* (अंक जनवरी-फरवरी, 2009) से साभार

से मिलवा दिया। उन्होंने मकान किराए पर लेकर शुरू किया 'चकमक क्लब'। वे लड़के पिछले दो-तीन सालों से एकलव्य से जुड़े थे और चकमक क्लब के स्त्रोत साथी थे। मैं भी चकमक क्लब जाने लगा। वहाँ तो बहुत ही अच्छा लगने लगा। वहाँ बच्चों के लिए पढ़ने की किताबें, तरह-तरह के खिलौने, कविता-गाने गवाने वाले भैया-दीदी थे। कागज के खिलौने, चित्र बनवाना और खेल खिलवाना भी वे वहाँ पर करवाते थे। रोज़ शाम को दो-तीन घंटे चकमक क्लब में जाना और वहाँ पर यह सब गतिवधियाँ मज़े-मज़े से करना सचमुच अच्छा लगता था। धीरे-धीरे हम बच्चों को वहाँ पर दूसरे भैया-दीदी की तरह गतिविधियाँ सिखाने के लिए 'स्त्रोत-साथी' बनने का मौका मिला। हमारी गतिविधि का नाम, सप्ताह का दिन आदि दीवार पर लिख दिया गया। अब उसे हम अपनी-अपनी ज़िम्मेदारी समझकर पूरा करते थे।

कौन-सा सामान लगेगा, ज़्यादा बच्चे आ जाएँगे तो कैसे-कहाँ बिठाएंगे, सप्ताह और महीने की योजना बनाना, पुस्तकालय संभालना आदि सभी काम हम 14-15 साल के लड़के-लड़कियाँ गोल घेरे में बैठकर मींटिग करते हुए तय करने लगे थे। सुबह होते ही हम बच्चों को चकमक क्लब के इन दो-तीन घंटों का हर रोज़ इंतज़ार रहने लगा। स्कूल, घर, मोहल्ले में हर समय हम लोग चकमक क्लब की बातें किया करते थे। स्कूल में भी अब मज़ा आने लगा था। स्कूल के शिक्षक-शिक्षका अब हमसे बहुत ही अलग तरह से बातें करते थे। स्कूल में 26 जनवरी और 15 अगस्त पर होने वाले कार्यक्रमों में चकमक क्लब के स्त्रोत साथी बढ़-चढ़ कर भाग लेते थे। जागरूकता के लिए नाटक का मंचन और गीतों की प्रस्तुति के लिए हमारे चकमक क्लब का स्थान पक्का रहता था। आस-पास के गाँवों के स्कूलों में भी हम चकमक क्लब के साथी 'बाल मेलों' का आयोजन करने लगे थे। चकमक क्लब में आने वाले बच्चों की रचनाओं और चित्रों के संग्रह-'अंकुर' पत्रिका को स्कूल, बैंक, पुलिस थाना, दवाखानों, पंचायत, प्राथमिक चिकित्सा केंद्र आदि जगह हर महीने देने जाते थे। अधिकारियों, साथियों और बच्चों के पालकों को हम अपने चकमक क्लब और 'अंकुर' पत्रिका के बारे में निःसंकोच बतलाते थे।

अफरोज़ पठान, राजेश वर्मा, अभिषेक सोलंकी, रामाधार पलाश्या, ताहिर अली और राकेश बिनौले, संगीता सिसोदिया, अर्चना टोंग्या, दीपिका विकरवार आदि चकमक क्लब के स्त्रोत साथी रहे हैं। इसमें कुछ मुस्लिम थे और कुछ हिंदू। कुछ लोग बाजार चौक में रहते थे, तो कुछ गाँव के अंतिम छोर पर-चर्मकार मोहल्ले में। कुछ कोने पर बसे मेवाती मोहल्ले में..... और कुछ....। इसमें कुछ साथियों के पिता मरे हुए जानवरों को उठाने का काम करते थे। कुछ साथियों के पिता भिक्षा माँगते थे, कुछ साथियों के पिता सरकारी नौकरी करते थे। कुछ के घरों में खेती होती थी तो कुछ के घरों में लकड़ी का सामान बनाने काम होता था। कुछ साथियों के पिता ड्राइवर थे। कुछ के पिता मंदिर में

पूजा करने का काम करते थे। हम सब चकमक क्लब के साथी सुख-दुख के भी साथी थे। साथ रहना, साथ-साथ चकमक क्लब जाना, एक-दूसरे के घर आना-जाना, पिकनिक-भ्रमण पर जाना, साथ खाना सब कुछ मिलकर करते थे। मिलकर तरह-तरह की योजनाएँ बनाना, कुछ नया करना-करते रहना यही हमारा सपना और सोच रहती थी। जब हम देखते कि जात-पात के नाम पर हमारे परिवार में, हमारे आस-पास भेदभाव किया जा रहा है, तब हमें गुस्सा आता था। जब हमें ऐसे लोग मिलते जो धार्मिक पाखंड और अंधविश्वासों की बातें करते तब हम विरोध करते थे। जब वे अपनी बेटियों, लड़कियों, बहनों को चकमक क्लब जाने पर रोक लगाते थे, तब हम संवाद करते थे। हमें अच्छा लगता था जब हम पाते कि इस तरह के विरोध प्रदर्शन या संवाद करने पर लोग हमारी बात सुनने और समझने के लिए मजबूर होते थे। इन सबमें थोड़ी-सी भी सफलता हमें खुशी से भर देती थी।

जब कोई बिना एंट्री किए चकमक क्लब से किताबें लेता या देता, चकमक क्लब के फेविकोल से कोई अपने घर पर फोटो चिपकाता या फिर चकमक क्लब के भीतर या किसी कार्यक्रम में कोई भी साथी अपने व्यवहार में किसी भी तरह की लापरवाही बरतता तो इन सब बातों पर हम आपस में झगड़ते थे या बहस करते थे। सामूहिक चर्चा करते थे। हम कोशिश करते थे कि चकमक क्लब की सामग्री का सदुपयोग हो। उससे चकमक क्लब के बच्चे रोज सीखें ही, साथ ही गाँव के स्कूल के सब बच्चे, आस-पास के गाँव के बच्चे भी सीखें। हम सब जो भी करते थे वह सब सचमुच का था – दिखावा बिल्कुल नहीं था।

कुछ लोग कहते थे कि लड़के-लड़कियाँ चकमक क्लब जाने से बिगड़ जाएँगे। वहाँ पर तो वो मुसलमान है (चकमक क्लब के संयोजक एक मुस्लिम साथी थे, जिनका चयन वहाँ के बच्चों और स्त्रोत साथियों ने किया था)। उनका तो सब खाना-पीना चलता है। बच्चों को मत जाने दिया करो वहाँ पर।

घर वाले मुझसे खुश थे क्योंकि उन्हें अब स्कूल जाने के लिए नहीं कहना पड़ता था। हम अपने ही गाँव के स्कूल के बच्चों को सिखाने जाने लगे थे। तरह-तरह की किताबें घर पर पढ़कर सुनाते थे। छोटे बच्चे हमें भैया नमस्ते, भैया नमस्ते कहते थे। सभी साथियों का ईद पर किसी के घर सिवइयाँ खाने जाना, मिलने-जुलने का कभी घर वालों ने सीधे-सीधे विरोध नहीं किया। धीरे-धीरे हम सबके बीच प्रेम और दोस्ताना बढ़ता रहा।

मैं दसवीं की परीक्षा दे रहा था। उस समय शाकिर भैया बाहर नौकरी करने जाने वाले थे। चकमक क्लब का नया संयोजक किसे बनाएं यह एक सवाल था। चर्चा के बाद चकमक क्लब के स्त्रोत साथियों एवं बच्चों ने मुझे संयोजक चुना। चकमक क्लब की दैनिक गतिविधियाँ, अंकुर पत्रिका का प्रकाशन, स्कूलों में बाल मेले, विज्ञान कार्यशालाएँ आदि शाकिर भाई के जाने के बाद भी हम साथी निरंतर जारी रख पाए।

मैंने दसवीं के बाद विज्ञान विषय चुना था। गाँव के स्कूल में सब विज्ञान को एक कठिन विषय के रूप में जानते थे। हमारे गाँव में दसवीं, बारहवीं का परीक्षा परिणाम 35–40 ही रहता था। अत: चकमक क्लब में हमने नियम बनाया कि जो भी साथी दसवीं या बारहवीं कक्षा में है, वे बाल मेले या चकमक क्लब के किसी भी कार्यक्रम में स्कूल या पढ़ाई छोड़कर नहीं जाएँगे। मैं भी बारहवीं में था। चकमक क्लब के स्त्रोत साथियों ने मुझे भी बाहर के कार्यक्रमों के लिए मना कर दिया। मैंने सन् 1999 में कक्षा बारहवीं 73 प्रतिशत अंकों के साथ उत्तीर्ण की। घर, परिवार, स्कूल, चकमक क्लब, एकलव्य आदि सभी जगह लोग खुश थे। गाँव में बारहवीं तक ही स्कूल था। शायद मेरे परिवार का सपना भी बारहवीं तक पढ़ाना ही था। मगर सोचा की अच्छे नंबर आए हैं तो बाहर पढ़ने भेजना चाहिए। मैंने इंदौर जाना तय किया। इसके बाद चकमक क्लब के बच्चों, स्त्रोत साथियों तथा संयोजक ने मिलकर चकमक क्लब के एक अन्य साथी राकेश बिनौले को चकमक क्लब का नया संयोजक चुना।

सोचने-समझने वाले इंसान का बनना

मैंने गाँव और शहर दोनों जगह के सरकारी स्कूल देखे हैं। सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की सामाजिक-आर्थिक दशाओं को नज़दीक से देखा है, महसूस किया है। बच्चों के विकास और शिक्षा की प्रक्रिया पूरी होने में बाधक तत्वों को जाना और समझा है। इन कारणों और परिस्थितियों को देखकर आज लगता है कि अगर कक्षा पाँचवीं की गर्मी की छुटी में उन स्रोत साथियों से मुलाकात नहीं होती, चकमक क्लब नहीं होता तो मैं भी गाँव के सरकारी स्कूल की किसी कक्षा तक शायद पढ़ाई करके काम धंधे में लग गया होता और एक हिंदूवादी मानसिकता के लिए साँसें ले रहा होता। ऐसा इसलिए भी लगता है कि शिक्षा के स्त्रोत कहे जाने वाले स्कूलों में परिवार के दबाव के चलते बच्चे स्कूल के अनुकूल होकर लिखना-पढ़ना सीख लेते हैं। कॉलेज में पढ़कर युवा 'एक नौकरी या काम' पा लेते हैं। यह और बात है कि किसको कौन-सी शिक्षा मिलेगी यह आज के समाज में आर्थिक ताकत के आधार पर तय होता है (पिछले समाज में जाति के आधार पर होता था) तमाम मुश्किलों या प्रयासों के बाद अकादमिक स्तर पर शिक्षित हुए इंसान की समझ कैसी रहती है? उसकी समझ बदलती है तो कितनी? और कितने लोगों की? कहना यह चाहता हूँ कि स्कूल, कॉलेज, समाज में धर्म, जाति व लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को उखाड़ फेंकने में असफल ही हुए हैं। साथ ही साथ अर्थिक सत्ता को भी मजूबती प्रदान करते हैं- उसका समर्थक भी बनाते हैं। इससे अंतत: एक हिंदू परिवार में जन्मा बच्चा हिंदू तथा मुसलमान परिवार में जन्मा बच्चा मुसलमान ही बना रहता है। शिक्षा, स्वास्थ्य में सुधार, गरीबी उन्मूलन, नारी सशक्तीकरण, अंधविश्वास निवारण, सांप्रदायिक सद्भाव आदि के लिए विभिन्न संगठनों के द्वारा तरह-तरह के कार्यक्रम होते हैं। एक पक्ष किसी कार्यक्रम

के आयोजनकर्ताओं का होता है, दूसरा पक्ष उनका जिनके लिए यह कार्यक्रम बनाया जाता है। इन कार्यक्रमों का अपना महत्त्व है, लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता है कि हम खुद अपने विकास और अपनी समझ के लिए आयोजन एवं कार्यक्रमों का निर्धारण करते हों, सोचते हों, अपने पिछड़ेपन के कारणों को तलाश करते हों और उनके निवारण के लिए साझा प्रयास करते हों।

अपने पिछले अनुभवों को याद करते हुए बार–बार लगता है कि चकमक क्लब जैसी जगह के होने से कितने बच्चे सोचने–समझने वाले इंसान बने हैं।